माध्यम मैं

लेखक की अन्य रचनाएँ

कविता : रूपरश्मि (१९४१), छायालोक (१९४५), दिवालोक (१९४६), मन्वन्तर (१९४८), दिवालोक (१९५३)।

कहानी : रातरानी, विद्रोह।

नाटक : धरती और आकाश।

समीक्षा : छायावाद-युग, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास।

माध्यम मैं

शम्भूनाथ सिंह

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी—१
मुद्रक : विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०
डी० १५/२४, मानमन्दिर, वाराणसी—१
संस्करण : प्रथम
मूल्य : दो रुपये ७५ नये पैसे
आवरण-चित्र—डा० जगदीश गुप्त

कविता-क्रम

शंख, सीपी और तट-रेखाएँ

ताबूत की कीलें

सोंधी प्रतिध्वनियां

लाल-हरी बत्तियां

शंख, सीपी और तट-रेखाएँ

व्रजविलास के लिए

उषा नमन

कनखियाँ
ये सीप-कन्यायें
उनींदे द्वार
गंगा-यमुन धारा सी गिरीं,
अल्पना सी पुरीं,
चौखट पास मंगल घट बनीं।
अनुच्चरित ऋचा
अधर में कँपी।
साँस के कच्चे हलद धागे हिले,
गोरोचना मुसकान
नभ में तिरी।

ओ उषा की नर्तकी
'अविकचस्तनी'
(मुसकान ओषधि-दूध धोई)
ओ अरुण-पत्नी
अरण्यानी,
क्रास में विजड़ित करों का
नमन लो !

देवि !

भूली भटके पथ के
झुके सिर का
नमन लो !

वन्दी प्राण

केशों की अँधेरी गुफाओं में
मेरे प्राण वन्दी हैं
(मेरे प्राण वसते उँगलियों में)
कुंजी रहित ताले सी नींद यह
नहीं खुलती
नहीं खुलती !
केशों की अँधेरी गुफाओं में
मेरे प्राण बन्दी हैं !

जिह्वा के पास मेरे प्राण जुड़े
(मेरे प्राण कथाकांक्षी शिशु हैं ।)
कथा की धारा पर
बाँध बन गया है
जिसका फाटक बन्द है
(क्योंकि यंत्रचालक जलाशय में डूब गया ।)
धारा का फाटक
नहीं खुलता
नहीं खुलता !

उसके भीतर मेरे
जिद्दी प्राण बन्दी हैं !

आँखों के दर्पण के सम्मुख
मेरे प्राण झुके !
(मेरे प्राण छाया पकड़ते हैं।)
सूरज डूबा
चन्दा नहीं उगा,
अँधियारे की परतों पर परतें
दर्पण पर जमीं
और जमती चली गयीं।
दर्पण के काले परदे
संख्यातीत
नहीं खुलते
नहीं खुलते !
मेरे प्राण उस अन्धे दर्पण में
बन्दी हैं !

शरद के तट पर

आया हूँ मैं शरद पाहुने,
जैसे खिंच कर आ पहुँचा हूँ
उस दूरी से
जहाँ अँधेरे के भयावने वन में
चलता था मैं शीश झुकाये;
हर आहट थी जहाँ नियति-आदेश
स्वप्न थे जहाँ सो चुके
पथराई आँखों में।

आज
शरद की अप्सरियों ने सहसा
बैठा कर वायवी पंख पर
पहुँचा दिया यहाँ
नीलम के सागर में
प्रवाल-द्वीपों के तट पर;
बाँध मुझे रेशम की
नागिन सी डोरी से
छोड़ दिया सागर की

इन विलुलित लहरों में,
तैर रहीं जिन पर
मछुओं की लघु नौकाओं जैसी
अमराई, झाड़ी, झोपड़ियाँ।
जलपोतों के सार्थवाह से
लगते हैं ये ग्राम-नगर
जिनके मस्तूल
मिलों की चिमनी,
शिखर मन्दिरों के,
विशाल भवनों के उठे कँगूरे,
ऊँचे वट, पीपल, पाकड़, टेकरियाँ;
जिनको घेरे हुए
धुएँ के बादल, कुहरे
लगते खुली, हवा से फूली पालों जैसे;

बहती इन नीली अकूल लहरों में
शत शत किरणों की सतरंगी चुनरी।
डूबूँ
इस अथाह नीलाई में ही डूबूँ
लाने को अनमोल रतन
डूबूँ, उतराऊँ!
यों ही मैं आमरण
शरद के तट पर
गाऊँ!

डूबा नगर

एक अजगर सी लहर आयी
बहा कर ले गयी मुझको
उस द्वीप के तट पर
जहाँ सागर
पर्वतों के चरण पर रख शीश
बेसुध सो गया था।
कौन,
यह था था कौन
जिसने अंक में ले
चुम्बनों से भाल, अधर, कपोल भर
नव जन्म मुझको दिया—
स्वप्न का यह देश
जिसमें मुझे जाग्रत किया;
सिन्धु में उभरी
झुकी सी शिला पर मुझको बिठाया!
"कहाँ ? मैं हूँ कहाँ ?" मैं था प्रश्न,
उत्तर........
(कौंधता सा एक अस्फुट स्वर)

तुम जहाँ बैठे हुए
यह सिन्धु में डूबी हुई मीनार का
उभरा शिखर है !
युगों से डूबा नगर
मेटालियन यह
ढका जल की पारदर्शी चादरों से,
उसे देखो,
सिन्धु में झाँको......

यह नगर दिखने लगा
वे भव्य ऊँचे भवन
तिरछी भित्तियों पर झिलमिलाती मूर्तियाँ
(वे अप्सरायें, राजकन्यायें,
विलासी पुरुष
जिनके हाथ के प्याले अधर तक
आज भी पहुँचे नहीं हैं !)
मन्दिरों के गर्भ
जिनमें देवता अब भी प्रतिष्ठित
किन्तु पत्थर,
निरे पत्थर रह गये हैं !
ये चतुष्पथ
ये नगर के राजमार्ग विशाल,
ये अट्टालिकाएँ
और उनके पार्श्व की अन्धी अगम गलियाँ
नसों के जाल सी उलझी हुई हैं !

वह महल,
वह राजसिंहासन,
किसी सम्राट की अब भी प्रतीक्षा कर रहा जो !
मृत्यु के स्थापत्य से ये चैत्य
जिनमें
रत्नमण्डित स्वर्ण के ताबूत में
कुछ राजपुरुषों के ममी सोये हुए हैं,
पास में जिनके अतुल धन-राशि
रक्षित है समुद्री अजगरों से !

यह नगर
जल की गुफाओं में
युगों से सो रहा है !
सिन्धु की लहरें भयंकर
गरजती ऊपर
दिशाओं को हिलातीं !
ज्वार का उद्दाम कोलाहल
समुद्री आँधियों का भीम गर्जन
सिन्धु के ऊपरी तल को ही
सदा विक्षुब्ध करते;
किन्तु नीचे की अतल गहराइयों में
शान्ति, अक्षय शान्ति !
जहाँ यह निर्जन नगर
निस्पन्द
हर विक्षोभ से अस्पृष्ट,

शीशे के महल में वन्द
ग्रोपधि-सिद्ध शव सा
सो रहा है !

तीव्र कांक्षा का उठा ग्रावेग;
उस डूबे नगर ने
मुझे ग्रपनी ग्रोर खींचा।
मुंद गयीं ग्राँखें;
विवश मैं सिन्धु में कूदा
(राज सिंहासन मुझी को टेरता था !)

जब खुलीं ग्राँखें,
कि यह क्या ?
कसा बाँहों में किसी की,
काष्ठ के टूटे फलक पर
एक निर्जन द्वीप के तट ग्रा लगा हूँ !
"मैं कहाँ ? तुम कौन ?"
दिशाग्रों में प्रश्न गूँजा;
सहज उत्तर मिला—
"यह तुम्हारी मनःसृष्टि
ग्रतृप्ति का यह द्वीप !
मैं तुम्हारी वधू प्रज्ञा
सिन्धु-कन्या हूँ !"

सूरज और छायाएँ

वे छायाएँ कल फिर आयीं
मेरा पीछा करती घूमीं
सड़कों की भीड़भाड़ में
रेस्ट्राँ में, बस में,
घर के आँगन में
शय्या पर।
ये घृणित असुन्दर छायाएँ,
पर इन्हें प्यार करता हूँ मैं !
ये छायाएँ जब भी आतीं
बेदर्दी से मुझको झकझोर दिया करतीं।
जड़ता अवसाद वितृष्णा का
सब घोर अजब
दमघोंट धुआँ भर जाता है !
फिर भी जाने क्यों इन्हें प्यार करता हूँ मैं ?
पर इनका एक और भी पहलू है
जो मेरा भय है
अन्तर्हित विवेक है
सूरज है,

जो छायाओं को
लम्बी, तिरछी और भयानक कर देता,
किरणों से नहला कर
जो मेरा दर्पण निर्मल करता है
जिसमें इनकी विद्रूप हँसी
बिम्बित होती।
इन छायाओं को वही रचा करता शायद,
जाने क्यों मेरे पीछे उन्हें लगाता है।
मैं किसे सत्य मानूँ
अपनी उन छायाओं को
या
अपने इस सूरज को?

अनस्तित्व की खोज

श्रो तुम
जो नहीं हो
कभी कभी तन्तुओं में बजते हो
अस्थियों को छूते हुए
मज्जा में रेंगते हो,
लगता है जैसे
कुछ कहीं हो !

जमे हुए सागर पर
स्लेज दौड़ाता हुआ
दूर-दूर जाता हूँ,
टूटी हुई बर्फ के गह्वर में
सागर के तल से
जो शार्क-सा झाँकता है,
देख कर मुझको
फिर जल में हिलकोर उठा
सागर की अतल गुफाओं में
अन्तर्हित होता है,
ओ तुम,

क्या यही हो ?

हिम-मण्डित गौरीशंकर पर
शेरपाओं का दल ले कर
चढ़ता हूँ,
लोहे की कीलें गाड़
जंजीरें बाँध
उन्हीं के सहारे आगे
बढ़ता हूँ।
किन्तु वह हिम-मानव
मैं जिसका अन्वेषी
लम्बे पदचिह्नों की रेखा छोड़
बर्फ की गुफा में कहीं छिप जाता,
वह जो पदचिह्नों से ही
शापित होता है,
ओ तुम,
क्या यही हो ?
अथवा तुम वह हो
जो नहीं हो !

मैं और 'मैं'

मेरे पड़ोसी मैं
धन्यवाद तुम्हारा हूँ,
ज्ञापित हो मेरी कृतज्ञता
तुम्हारे प्रति !
लुके-छिपे इंगित तुम्हारे
मुझे मिलते ही रहते हैं;
(यद्यपि उन सब को मैं कहाँ समझ पाता हूँ ?)
और जब वे मुझ तक आते हैं
मैं संज्ञातीत बन जाता हूँ।
मेज पर रखी हुई घड़ी की टिकटिक,
दूरागत मन्दिर की घंटाध्वनि
पास किसी घर में
अनाम शिशु की दमतोड़ चीख,
दिग्यात्री यान का अनन्त भेदी महानाद
बीते युगों की तलवारों की झंकारें
आगामी युद्धों के
उद्‌जन बमों के प्रलय विस्फोट
इन सब ध्वनियों का

एक साथ श्रोता
मैं
निर्लिप्त भोक्ता
शब्दातीत बन
कालानुभूति मात्र शेष रह जाता हूँ;
तिरने लगता हूँ
उस सागर की लहरों पर
जिसके तल पर अनुक्षण
तिरते ही रहते हैं
नक्षत्र
ग्रहपिण्ड,
डूबते नहीं जो
न ही बुझते हैं!

फिर भी उन इंगितों का ग्राहक मैं
न कुछ नगण्य हूँ
क्योंकि अनस्तित्व की
कटती हुई रेती पर
निरवलम्ब खड़ा हूँ!
ओ मेरे मांत्रिक पड़ोसी
मुझे मंत्राभिषिक्त कर
माध्यम बनाते हो,
बनाओ;
किन्तु मेरे सह-अस्तित्व की
गुहार भी तो सुन लो।

सुन लो कि मैं
उन संकेतों का ग्राहक
सिद्ध संवाहक नहीं हूँ,
आसक्त भोक्ता हूँ।
वाणीहीन वक्ता हूँ
(प्रायः वक्ता ही हूँ!)
(लौह कवच में लिपटा
ज्वाला में गलता हूँ।
अभिशप्त प्रतिमा
(प्रस्तरीभूत आत्मा)
हूँ!
घुटता हूँ,
टूटता हूँ!)

ओ मेरे निकटस्थ
मंत्रविद् "मैं"
तुमसे चल कर भी
जो मुझ तक आज तक नहीं पहुँचे
अपने उन गूढ़ संकेतों से छूकर
तुम मुझे शापमुक्त करो;
टूटे यह मेरे और 'मेरे' बीच का
अभेद्य लौहावरण
मुक्त बनें
तुझसे मुझ तक के
सब सम्प्रेषण।

हो
निर्बाध
अछन्द
अछूट
मैं और "मैं" का
मुक्तालेपण !

सरीसृप

यह महा सरीसृप जिस गह्वर से आया था
(जिसका फन अब तक फैला था मेरे सिर पर)
धीरे धीरे अब वह लौट चला उसी ओर
मेटता हुआ मेरे सब के सब हस्ताक्षर
जो मेरी उँगली से बालू पर अंकित थे।
बँधे हुए अब उसकी पूँछ में चरण मेरे;
रथ के पीछे जैसे बँधा विवश खिंचता मैं
चला जा रहा हूँ। रेतीली आँधी घेरे-
साथ साथ चलती है। फन की छाया में जो
सपने सा उतरा था, वह मेरा सिंहासन
चला गया, सिंह उड़ गये स्वर्णिम पंख खोल
शेष रहेगा अब तन के कर्षण का अंकन
फिर भी वह गह्वर है दूर, अभी बहुत दूर,
तब तक इस महासर्प से लड़ता जाऊँगा
एक अजन्मे जीवन के सुख की आशा में
लड़ने का यह दुख मैं गाऊँगा, गाऊँगा!

रूपान्तर

मेरी इच्छायें
जो पतझर के पातों सी झर गयीं,
जो डाली डाली को
बेपर्दा कर गयी,
कौन कहता है, वे मर गयी?
वे मेरी मिट्टी में
खाद बन समा गयी;
रस-धारा बन कर
वे मुझ में ही आ गयी;
बन कर
रेशमी गन्ध-भीना अवगुंठन
वे फिर मुझ पर छा गयी!
अपनी इच्छाओं से ही तो
मैं निर्मित हूँ।
उनके रूपान्तर ही में तो
मैं जीवित हूँ!
मैं उनका फल हूँ,
मैं उनको ही अर्पित हूँ!

भागूंगा नहीं

भागूँगा नहीं
पीठ रोपूँगा नहीं मैं।
कोड़ों की चोट
इन कन्धों पर
छाती पर
मेरे काल़देव,
मैं सह लूँगा,
सह लूँगा !
भागूँगा नहीं !
फाँसी के तख्ते पर
गंगा की धारा में
सागर के बीच
ऊँचे पर्वत की चोटी पर,
जहाँ भी बुलाओगे
डोरी से बँधा जैसे बंसी की
खिंच कर आ जाऊँगा;
जोहता तुम्हारी बाट,

रूपान्तर

मेरी इच्छायें
जो पतझर के पातों सी झर गयीं,
जो डाली डाली को
बेपर्दा कर गयी,
कौन कहता है, वे मर गयी ?
वे मेरी मिट्टी में
खाद बन समा गयीं;
रस-धारा बन कर
वे मुझ में ही आ गयी;
बन कर
रेशमी गन्ध-भीना अवगुंठन
वे फिर मुझ पर छा गयी !
अपनी इच्छाओं से ही तो
मैं निर्मित हूँ।
उनके रूपान्तर ही में तो
मैं जीवित हूँ !
मैं उनका फल हूँ,
मैं उनको ही अर्पित हूँ !

भागूंगा नहीं

भागूँगा नहीं
पीठ रोपूँगा नहीं मैं ।
कोड़ों की चोट
इन कन्धों पर
छाती पर
मेरे कालदेव,
मैं सह लूँगा,
सह लूँगा !
भागूँगा नही !
फाँसी के तख्ते पर
गंगा की धारा में
सागर के बीच
ऊँचे पर्वत की चोटी पर,
जहाँ भी बुलाओगे
डोरी से बँधा जैसे बंसी की
खिंच कर आ जाऊँगा;
जोहता तुम्हारी बाट,

जहाँ भी रखोगे
मैं रह लूँगा,
रह लूँगा!
भागूँगा नहीं!
फिर भी
मुँहदेखी मैं करूँगा नहीं।
भले ही न भागे बढ़े पंजे मरोड़ सकूँ!
भले मैं तुम्हारा उठा वज्र कालदण्ड भी न तोड़ सकूँ;
भले ही रहूँ मैं असहाय, विवश
पींजरे के बन्दी-सा
तुम्हारे द्वार।
फिर भी मैं
मौन तो रहूँगा नहीं;
तुमने दिया था जो विवेक मुझे
उसको नहीं मैं अश्रुजल में डुबाऊँगा।
अंगीकार करके भी
निर्मम तुम्हारा दान,
खोखली तुम्हारी मर्यादा को
चुनौती देता
जो कुछ भी मुझको कहना होगा
निर्भय
मैं कह लूँगा,
कह लूँगा!
भागूँगा नहीं!

निरावरण

जो खोली ओढ़ी है
उसको उतार दो !
क्या हुआ जो नहीं वस्त्र,
नंगे हो जाओ,
सामने सरोवर है निर्मल जो
तुम उसमें झाँको,
और अपने को देखो !
देखो कि खोली नहीं हो तुम
न ही वस्त्राभूषण हो
डरो नहीं,
नार्सिसस नहीं हो,
नहीं हो रूप-रंग मात्र ।
रक्त-मांस के जीवित पिण्ड तुम
अगणित संभावनाओं के हो बीज !
देखो कि
महासर्प से लड़नेवाले तुम
लाओकून की जीवित प्रतिमा—
त्रिमूर्ति हो, त्रिकालवर्ती

(चौथी मूर्ति तुमको लपेटे हुए अजगर सी
तुम में ही छिपी है !)
यह खोली
उस महानाग से न तुमको बचायेगी।
इसको उतारो
और नंगे हो जाओ !
किन्तु उस अन्तर्लीन नाग से डरो नहीं,
मत उसको मारो
गले में लपेटो उसे
नटराज बनो,
शेषशायी बनो !
अहं के अणुओं को फोड़ो,
टूटो और विषधर को
तोड़ो
खोली को छोड़ो !

शून्य

शून्य धन है,
ऋण नहीं ।
एक जिसके योग से
दस बन गया ।
शून्य का नित अर्थ नूतन
धन नया ।
शून्य से होंगे उऋण मन,
वरो, शतगुण करो निजपन,
शून्य फलप्रद कल्पतरु
लघु तृण नहीं !
शून्य धन है
ऋण नहीं ।

(चौथी मूर्ति तुमको लपेटे हुए अजगर सी
तुम में ही छिपी है !)
यह खोली
उस महानाग से न तुमको बचायेगी ।
इसको उतारो
और नंगे हो जाओ !
किन्तु उस अन्तर्लीन नाग से डरो नहीं,
मत उसको मारो
गले में लपेटो उसे
नटराज बनो,
शेषशायी बनो !
अहं के अणुओं को फोड़ो,
टूटो और विषधर को
तोड़ो
खोली को छोड़ो !

शून्य

शून्य धन है,
ऋण नहीं।
एक जिसके योग से
दस बन गया।
शून्य का नित मर्म नूतन
धन नया।
शून्य से होंगे उऋण मन,
वरो, शतगुण करो निजपन,
शून्य फलप्रद कल्पतरु
लघु तृण नहीं!
शून्य धन है
ऋण नहीं।

तट और लहरें

एक लहर जाती है एक लहर आती है,
बालू-तट पर रेखायें बनती जाती हैं।
शंख और सीपी यह सागर दे जाता है,
मोती के सपनों से मन को भरमाता है।
दूर दूर द्वीपों की ध्वनियाँ घिर-घिर आती,
अभिमंत्रित रेखा से टकराकर फिर जातीं।
इस तट पर चाँदी के साँपों का पहरा है,
आस्था के घन पर आवरण पड़ा दुहरा है।
यह वह तट जिस पर युग-युग के फोनिक्स खड़े,
अणु के तावूतों में ममी जहाँ बन्द पड़े।
यह वह सीमा कि जहाँ जल की गति रुक जाती,
रेखांकित चरणों पर लहरें आ झुक जातीं।

फिर क्यों मन को जल की परियाँ भटकाती हैं ?
एक लहर आती है, एक लहर जाती है।

देह-तक

समय की गुफाओं में चित्रित
ये सभी तर्क व्यर्थ हैं।
इन चित्रों का संदेश
देह नहीं, द्रव्य नहीं,
शून्य की अमरता है!
आकृतियाँ पहन कर
रूपायित होता जो,
काल की तरंगों में बहकर
जो तट पर आ जाता है,
बालू में बिखरा,
जो संज्ञाओं में विभक्त होता है,
वह तो उस अव्यक्त सागर का
व्यक्त हुआ भाग है,
नीली गहराइयों का
उच्छिष्ट त्याग है।
मृत्यु और जीवन
ये शब्द नहीं,
अंधे गलियारों की गूंज—

नहीं जिसका कुछ अर्थ है !
समय की गुफाओं में चित्रित
ये देह-तर्क व्यर्थ हैं।

दिक् और काल
ये भी परिमित आयाम हैं,
रूप-रंग, गति-रेखा
इनके ही नाम हैं !
भोक्ता नहीं ये,
मुझसे ही ये दोनों भी भोग्य हैं !
मुझसे ही क्षर हैं,
मुझसे ही मरण-योग्य हैं !
पर ये कब रुकते हैं, झुकते हैं;
ये दोनों पहियें हैं,
नियमों की धुरी पर
चलते ही रहते हैं।
मुझको भी चलने दो
ओ अंतर्यामी,
विवेक की धुरी पर तुम चलने दो !
मेरे विवेक को स्वतंत्र रखो,
क्षणता के बीच
मुझे हँसने दो, रोने दो,
खिलने दो, जलने दो !
अपनी स्वतंत्रता का प्रत्यय ही
जीवन का अर्थ है !

समय की गुफाओं में चित्रित
जो देह-तर्क,
अर्धसत्य,
व्यर्थ हैं !

माध्यम मैं

मैं माध्यम हूँ
विराट स्वर-तांत्रिक का;
मुझमें उतरा करती हैं आत्मायें।
तांत्रिक करता है प्रश्न
और आत्मायें उत्तर देती हैं।
मेरी वाणी
बन छन्द, गीत, लय
सहज निरंकुश निर्विकार
अस्पृष्ट अहं से मेरे
फूट बहा करती।
तांत्रिक जब जो पूछा करता
वाणी उत्तर बन जाती है।
इस शब्दचित्र में मेरा 'मैं' कुछ नहीं
क्योंकि मैं माध्यम हूँ

ताबूत की कीलें

प्रभात के लिए

जो

काल सिन्धु में डूब गया

प्रतीक्षा

बादल में डूब गया
पंचमी का चाँद,
बाकी अब यह काली रात
जो न ख़तम होने को ।
बारह भी गजर होगी
तीसरा पहर भी गुज़र जायेगा,
झिलमारे
श्वेत केश शाम के
नीले नभ में
मेरे माथे पर
छा जायेंगे,
न किन्तु बीतेगी
यह काली रात
जो प्रतीक्षा है
केवल प्रतीक्षा है
डूबे हुए चाँद की !

कथ्य

कह लेने दो
मत रोको;
कौन जाने
जो कुछ कहना है
उसे मैं कल कह पाऊँगा या नहीं।
क्या पता
कि वह कल आयेगा भी।
आवेगों का जल बह जाने दो,
मत रोको,
जीवन का पुल न कहीं टूट जाय।
यह आँधी
जिसने अस्तित्व को डिगाया है,
अतिथि है,
मत रोको,
आयी है
स्वागत !
वह भी तो कुछ दे जाये।
[धूल, अन्धकार; ये सब भी अपने ही हैं]
दिये को बुझाती
तो बुझाने दो,
मत रोको।

अश्व और अश्वारोही

किरणों के तोरण, मधुगन्धों की झालर को
तोड़ नित्य था ही आया वह अश्वारोही,
घोड़े से उतर खड़ा देर रहा मुझको ही
सांकल से झंकृत करता मेरे अन्तर को !

माँग रहा नयनों से भीरु नयन के जल को
भय-भरी पुलकों को, माथे के चुम्बन को,
पूछ रहा बातें चुप चुप अनजानी मन की
दुहराता मेरी श्लथ साँसें धड़कन दिल की !

रोज रोज की ये जानी-पहचानी झलकें
बेबस कर खींच रहीं मुझको मुझसे बाहर;
दूर, यहाँ-वहाँ कहीं जाने को यह अन्तर
अकुलाता, नई नई जलती बुझती झलकें !

"आऊँ ?"...उठकर दौड़ा, पहुँचा जब चौखट पर,
अश्व ही अकेला था—बोला, "वह निर्मोही—
चला गया। आओ अब तुम्ही बनो आरोही,
वल्गा पकड़ो, तुमको ले चलूँ नये तट पर !"

चाँदनी की वर्षगाँठ

सात वर्ष पूर्व
फागुन की एक सिहरन भरी रात में
मैंने और तुमने
'चाँदनी की खेती की
कल्पना उरेही थी।'
वह जो पूरे दायरे के चाँद की
छाया उजागर थी,
आज की ही रात थी
जब हमने
रास-रंग बजर करैली में
चाँदनी के बीजों को बिखेरा था।
चाँदनी की खेती के विश्वासी हम दोनों
✓नहीं जानते थे तब
एक दिन एक काला भैंसा
अमावस की रात-सा
आयेगा
और इस अँकुराई चाँदनी को

देखते ही देखते
चर जायेगा ।

आज यह चाँदनी की फसल
नष्ट हो चुकी है
फिर भी इस रेत के चारो ओर
हमने नागफनी का बाड़ा रूँध दिया है,
इस आशा में
कि शायद चाँदनी की जड़ें फिर पनपें
और वह काला भैंसा
सीमा में हमारी प्रवेश कर पाये नहीं ।
तब से यह फागुन की
हिमवर्णी पूनो
बार-बार आयी गयी
किन्तु आज तक
न तो चाँदनी ही पनपी
न वह भैंसा ही आया ।
नागफनी की बाहें फैल कर
अब तो हमको ही घेर रही हैं
आज उसी चाँदनी की
सातवीं वर्षगाँठ है ।

खण्डहर की रात

चाँद जिसका आइना है
औ' अँधेरा आँख की छाया बना है
खोखला, कंकाल,
मात्र कलंक बन कर
चाँद में बिम्बित हुआ जो
वही मैं हूँ !
मैं वही हूँ !

झींगुरों की तान जो सुनता
जो उलूकों के भविष्यत् गान को गुनता,
तारको को जो सुलाता लोरियाँ गा कर,
रात-सा ही जो अकेला
वही मैं हूँ !
मैं वही हूँ !

जहाँ स्मृतियों का खजाना गड़ा
जहाँ तन का ठूँठ पीपल खड़ा
मंत्रकीलित, गेंडुली मारे

सजग प्रहरी वहीं
इस खण्डहर का नाग जो है .
वही मैं हूँ !
मैं वही हूँ !

तब फिर गाऊँगा

जब न प्रश्न होगा
"मैं कहाँ, कौन ?"
तब फिर मैं गाऊँगा।
मन के निर्झर का मुख
बन्द किया जिसने भी
निश्चल चट्टान से,
सुन ले वह अन्ध गुफा का वासी,
बर्बर अत्याचारी,
टूटेगी,
निश्चय वह टूटेगी
जल के उद्दाम प्रखर वेग से।
टूटेंगे जीवन के बन्ध सभी,
डूबेंगे गिरि-संकट
वन-घाटी
दुर्गम-पथ।
हो जलौघ-मग्न धरा
उस कच्चे घट-सी गल जायेगी
जिसको

उस दिन मेरे हाथों से छीन
धूप जल ने पी डाला था ।
जब होगा जीवन
निर्वाप
मौन
तब फिर मैं गाऊँगा,
तब न प्रश्न होगा—
'मैं कहाँ
कौन है ?'

अधूरा चित्र

मैं अधूरा रह गया।
पूर्णता मेरी
तुम्हारे हाथ
टूटे स्वप्न से ही तुल गयी।
आह, कच्ची मृत्तिका की मूर्ति
जल में घुल गयी।
धुन्ध,
आँधी,
धूल का अम्बार,
अब यह चित्र जीवन का नया!
मैं अधूरा रह गया!

एक पत्ता पीत
तरु को त्याग कर
तूफान में उड़ता फिरा।
एक किसलय-दल
बवण्डर के थपेड़े खा
विकल हो

दिन डूबे

दिन डूबे गान उठा !
प्रिय, तेरे स्वर को
नभ में अंकित अविनाशी अक्षर-मदार को
मन मेरा (जड़ भरत सही)
पल में पहिचान उठा !
दिन डूबे गान उठा !
सोने का ईगल गाता-गाता
ऊब गया !
उड़ता-उड़ता थक
फिर
तम के सागर में गिर
डूब गया !
तब सहसा
लहरों के कोलाहल से ऊपर
उठ कर आया मुझको वेधता हुआ
आमंत्रण का स्वर !
देखा,
इस गोधूली के तल पर

वर्जित पथ

यह आम रास्ता नहीं
इधर से मत जाओ,
इस गलियारे से जाना
वर्जित है !
इसमें जीवन की घड़ी
बन्द हो कर सोई,
इसमें भीषण तूफान मचलते हैं !
इसमें अँधियारी
काली चट्टानों-सी जमी हुई,
इसमें बिजली के अन्धड़ चलते हैं !
✓यह निर्मम कालदेव के
महादुर्ग का तोरण द्वार,
इधर से मत जाओ ! ✓
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है !

इस गलियारे में
महिष-कण्ठ की
किंकिणियाँ बजतीं

डालों से नुच कर
बिखर गये !
उन पंखों की
जो नभ में तुले नहीं
बस खुलते-खुलते
सहसा ठहर गये !
मैं द्वारपाल हूँ
प्रश्नचिह्न-सा महाकार
इस गलियारे के द्वार,
इधर से मत जाओ !
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है ।

यह मुख देव-शिशु सा,
आकर्ण, मृग-छौने सी
आँखें बड़ी-बड़ी !
यह काठ की गाडी
ये लकड़ी के घोड़े
ये फूलो के पौधे
ये मिट्टी के गमले !
खोज हारा इनमें,
मिला नही
कोई सवार या कि माली
जो पौधों को पानी दे
गाड़ी के घोड़ों को बदले,
फूलो के बीच खड़ा मुसकाये,
गाये—
'ठंडी-ठंडी छाँव में खजूर के तले'
और फिर
नीबू की झुकी हुई डाली पर
बैठ कर सुस्ताये,
दम लें !

विष-लहर

वेदना न बहे,
न वहे !
क्यो,
आखिर क्यो
अपने से बाहर जाकर
अपना दर्द रहे ?
(दर्द न बहे !

चुप
सो जा !
मन,
रो-गा लेने के बाद भी
न क्या तूने
सौ-सौ आघात सहे ?
वेदना न बहे !

किसका वश ?
मुझको डँसकर चला गया
विषधर;

झेलूँ
चुपचाप
लहर
बिन बोले, बिना कहे !
वेदना न बहे !

चलते इलथ
जीवन-पथ पर मेरे
दुख औ' सौंदर्य चरम;
नयन नयन मिले
हाथ हाथ गहे !
वेदना न बहे,
न बहे !

आठवाँ रंग

बन्द दरवाजे, खिड़कियाँ, ये रोशनदान;
सभी द्वार बन्द, नहीं कोई भी प्रवेशद्वार।
मेरे सप्ताश्व अतिथि, भूल कर रोका यान
तुमने यहाँ पर। सुन बन्दीगृह की पुकार
अरुण ने शत-शत वल्गाओं को खींचा व्यर्थ।
तुमने भी दुर्निवार सप्त शर मारे तान!
किन्तु व्यर्थ, इतना तुम्हारा श्रम किस अर्थ?
विश्वनयन, रुके अन्ध सारथी की बात मान
अन्धकूप से घर के द्वारे, जिसके भीतर
एक अन्ध गाता है जीवन के अन्ध गान!
गहरा, गहरा, गहरा होता जाता सागर;
तल के वासी तक पहुँचे कैसे ज्योति-बाण?
हे प्रकाशदेव निज लौटा लो सातो रंग?
मैं हूँ आठवें रंग में डूबा, मैं अरंग!

शतखण्डी मीनार

मेरे कलाकार
मुझको बनाया शतखण्डी मीनार
जिसका कँगूरा उठा
नीले आसमान में।
अनगिन गवाक्ष रचे
सीढ़ियाँ बनाई ये
उर्ध्वगामी चक्करदार,
निर्मित की पत्रलता
कमल, हंस, मुक्ताहार;
छेनी से काट-छाँट
मूर्ति गढी,
आकृति दी,
गूँज भरी!
कल्पना तुम्हारी हुई
मुझ में साकार!
किन्तु मेरे कलाकार
मेरी अनुवर्ती मीनार
तुमसे न पूरी हुई,

टूट गिरी पाँचवें ही खण्ड में,
बिखरा तुम्हारा स्वप्न
बालक के छोड़े हुए
धूल के घरौंदे सा।
पंखहीन कल्पना तुम्हारी
ध्वस्त स्तूप सी
मेरे पद-तल में तड़पती
मेरे उन्नत मस्तक पर
सौ सौ व्यंग-बाण मारती
शक्ति को तुम्हारी ललकारती!

मेरे कलाकार,
आज हुई खोखली
स्वयं से भी अस्वीकृत
रचना तुम्हारी—सतखण्डी मीनार—
जिसने किया था कभी स्वीकार
रचना का आभार,

वही आज
देती चुनौती तुम्हारे अस्तित्व को;
यदि हो
(जहाँ भी हो)
करो स्वीकार
हे असफल कलाकार
विगत अहंकार
शतखण्डित आत्मा के
शत शत धिक्कार!
ओ मेरे कलाकार!

गजल

दूर आकाश के सितारे हैं!
धूल या फूल, मोम या पत्थर
पास जो हैं वही हमारे हैं!
तुम किनारे हो, वे किनारे हैं
जी रहे हम लहर की मरजी पर,
पास जो है, वही हमारे हैं!
हम उसी आग के सहारे हैं
जो कि दिन रात दिल में जलती है,
दूर आकाश के सितारे हैं!
दूर जा कर बसी बहारें हैं;
आँधियाँ, चीख, टूटती शाखें—
पास जो है, वही हमारे हैं!
उड़ने वाले ये रंग सारे हैं,
टूट जाती है जादुई तस्वीर;
दूर आकाश के सितारे हैं!
घर का दीपक बुझा के हारे हैं,
घर का दीपक जला के जीतेंगे,
पास जो है वही हमारे हैं!

जीवन-लय

शब्द हैं,
स्वर है,
सजग अनुभूति भी
पर लय नहीं है!
कट गये पर हैं
अगम इस शून्य में,
उल्का सदृश
गिरते हुए मुझको
कहीं आश्रय नहीं है!
थम गये क्षण हैं
दुसह क्षण
अन्तहीन, अछोर निरवधि काल के;
फिर भी मुझे
कुछ भय नहीं है!
एक ही परिताप प्राणों में
सजग अनुभूति
पर क्यों लय नहीं है?

सोंधी प्रतिध्वनियाँ

प्रभावती के लिए

सात बजे

रात बीत गयी !

दीख रही घास हरी
किरण कलित ओस भरी
इन्द्र-धनुष-मयी !

उतर रही तरु-तृण पर
कुहा-धूम्र में छिप कर
धूप-वधू नयी !

धरती पर विहग-रचित
गूँज रहे गीत त्वरित
बन कर धम्मई !

जाड़े का मुखर प्रात,
टनटन कर बजे सात
एक साथ कई !
रात बीत गयी !

पतझर

मन का आकाश उड़ा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

बीती बातों पर सर टेक कर
टेर रहा मन भूली नींद को;
धूप-छाँह की गंगा-यमुना में
डुबो रहा हँस हँस उम्मीद को !
अपना विश्वास लुटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

सूनेपन की बाँहों में फँसकर
रुक रुक चलती दिन की साँस है;
बदरी की दीवारों में कस कर
करता कसमस फागुन मास है;
दुपहर का दीप बुझा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

हाड़-मास की गठरी सा जीवन
जीवित जैसे भंगी डाल है;

खड़खड़ कर उड़ते खग से पत्ते
फैला भूपर झिलमिल जाल है;
आँखों का स्वप्न मिटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

मैं वह पतझर, जिसके ऊपर से
धूलभरी आँधियाँ गुजर गयी;
दिन का खँडहर जिसके माथे पर
अँधियारी साँझ की ठहर गयी;
जीवन का साथ छुटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

पगडंडी

छिप छिप कर चलती पगडंडी घनखेतों की छाँव में !

अनगाये कुछ गीत गूँजते
हैं किरनों के हास में,
अकुलाई सी एक बुलाहट
पुरवा की हर साँस में !
सूनापन है उसे छेड़ता छू आँचल के छोर को,
जलखाते भी बुला रहे हैं बादल वाली नाव में !

अंग अंग में लचक, उठी ज्यों
तरुणाई की मोर में,
नभ के सपनों की छाया को
आँज नयन की कोर में !
राह बनाती अपनी कुस-काँटों में, सल-सिवार में,
काँदो-कीच पड़े रह जाते, लिपट लिपट कर पाँव में !

पाँतर पार धुँवारी भौंहों
की ज्यों चढ़ी कमान है,
मार रहा यह कौन अहेरी
सधे किरन के बान है ?

रोम-रोम ज्यों बिंधे तीर, टूटी सीमा मरजाद की;
सुध-बुध खो चल पड़ी अकेली अपने पी के गाँव में !

रुनझुन बिछिया झींगुर वाली
किंकिन ज्यो वक-पाँत है, -
स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात है !
पहरू से कुछ पीली कलँगी वाले पेड़ बबूल के
बरज रहे, री पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाँव में !
अपना ही आँगन क्या कम जो चली पराये गाँव में ?

टेर

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?

किसकी यह छाँह
और किसके य गीत रे ?
वरगद की छाँह
और चैता के गीत रे !

सिहर रहा जिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?

किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे ?
बैरी के काँटे हैं
केले के पात रे।

विहर रहा हिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?

कौन से टिकोरे ये
किसके ये फूल रे ?

आम के टिकोरे में
महुए के फूल रे!

बिरम गये पिया तुम कहाँ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ?

किसकी ये आँखें हैं
किसकी यह रात रे?
विरहिन की आँखें हैं
सावन की रात रे।

बुझता यह दिया, तुम कहाँ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ?

पूजा के बोल

बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !
नवमी का चाँद बुझा
हवा उठी जाग,
तैरता अँधेरे पर
मिला-जुला राग !
गीत की हिलोरों पर रात रही डोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

नीम का हिंडोला औं
मालिन का द्वार,
एक बूँद की प्यासी
माँ रही पुकार !

यह पुकार नींद के किवाड़ रही खोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !
बाहर की साँय-साँय,
भीतर की ऊब;
हलके पदचाप रहे
डिमडिम में डूब

मन में गुगुड़ा उठे सपने अनबोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

गान-लगा जी, जैसे
बीन-ठगा साँप,
उठता गिरता स्वर की
लहरों पर काँप !
पाल खुली, नाव बही सुधि की अनमोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल ।

कातिक की धरती

ऋतुमती कातिक की धरती,
उभरती, नव छवि से भरती !

बूँद बूँद रस लेकर निखरी
सृजन-तृषा कण-कण में बिखरी,
श्लथवसना, रति-श्रम से विथरी
लाज लिये मरती !
कातिक की धरती !

रोम रोम में छवि की छाई,
त्रिवली सी है खिंची हराई,
सोनजुही सी रूप-लुनाई
अँग-अँग की भरती !
कातिक की धरती !

आज थकी सोयी यह माटी,
बीज-ग्रहण की यह परिपाटी !
कल मेचक-मेदुर मणि-घाटी
होगी यह परती !
कातिक की धरती !

विरहिणी का गीत

[लोक-गीत]

पिया न आये, आमों में
आ गया टिकोरा री !

बँसवारी में मैना बोली
पीपल पर कोयलिया;
आँगन की चन्दन गछिया पर
बोला कागा छलिया ।

दूर किसी झुरमुट में बोला,
वन का मोरा री !

साँझ-सकारे चम्पा फूले
अधरतिया में बेला;
दिन दोपहरी डहडह डहके
दुपहरिया अलबेला ।

छिनछिन पियराता पर धनि का
मुखड़ा गोरा री !

लहराई टेसू-सेमल के
सिर पर लाल पगरिया;

उठ धाई आतुर धरती
सतरंगी पहिन चुनरिया।
हहर रही बहुआरि,
किसके हित पाट-पटोरा री!

'पूत पूत' धुन पण्डुक रटता
चातक 'पी पी' रटता;
कोइलिया की 'कुहू कुहू' से
अलसाया दिन कटता।
एक मौन जपता
बिरहिन का यौवन कोरा री!
पिया न आये आमों में
आ गया टिकोरा री!

कातिक पूनो का मेला

धरती महमह महकी !
वही रात कातिक पूनो की
शरद जुन्हैया डहकी !

बाँकी-तिरछी यह पगडंडी
ऊँची-नीची धरती,
निशि-छाया की वे तसवीरें
नयनों बीच उतरतीं।
वन-तुलसी की गन्ध-लपट वह
आज नसों में लहकी !

कमठ-पीठ सी चिपटी चोटी
पर पूनों का मेला,
वह मुण्डा-उराँव नर-नारी
का नर्तन अलबेला !
वही बाँसुरी-माँदल की धुन
आयी बहकी-बहकी !

कानो में कहती सी आई
बात वही पुरवाई—

क्वार की धूप

यह प्रसन्न धूप रूप-सिन्धु को अथाह
गुदगुदा रही बढ़ा किरन की बाँह !
शबनमी नयन धरा के मुसकरा रहे
झलमला रही है नील आँसमा की छाँह !

थरथरी रुकी, अकम्प स्तब्ध रोम-जाल,
टकटकी लगा के देखती धरा कमाल,
धूप ने उलट दिया है रूप का नक़ाब
स्वप्न सत्य हो गया, यथार्थ इन्द्रजाल !

चम्पई बना अनन्त नीलिमा-प्रसार,
हंस-किंकिणी-क्वणित विराट शून्य-द्वार !
क्वार की कुँआरी रूपसी धरा नयी
धूप-धार में नहा रही लटें पसार !

नील झील की मुँदी कुई समान चाँद
कान्तिहीन पी रहा अनन्त का विषाद !
धूप की लहर में काँपता सा वार वार
है जगा रहा अनेक भूलें, एक याद !

कस कर रजत के बन्धनों में
साँझ अब मुरझा रही है।
यह सुधा का विष
कि तन का खून काला पड़ रहा है।

मर गई लो साँझ,
चाँदनी का भस्म निज तन में रमाये
चाँद सारी रात अब भटका करेगा!

पूनों की साँझ

साँझ सिन्दूरी
सुनहली पहन कर साड़ी लहरिया
लगे जिसमें रुपहरे गोटे
बुलाती है क्षितिज पर
झुटपुटे में चाँद को।

आश्विन पूर्णिमा का चाँद
पूरब के धुँधलके बीच
काले झुरमुटों से झाँकता है;
वीथियों में ताड़ और खजूर की
छिप-छिप,
दबाकर पाँव चलता;
और सहसा कर बढ़ाकर
लाजवन्ती साँझ को झकझोर देता,
आँक देता चुम्बनों के जाल
श्याम कपोल पर।

बन्धनों को तोड़
जाती,
छोड़
सर्पिल स्पन्दनों की
रजत-रंगी याद।
हिलते देवदारु समूल
थर थर थर
अपूरित वासना से सिहर!
घिरती बादलों की लहर!

पहाड़ी बादल—एक प्रभाव

उमड़ा बादलों का सिन्धु,
घिरती लहर!
फिर रही विभ्रान्त
सब कुछ भूल;
पास कमरे में चली आती
बना कर आर्द्र सब कुछ
सभी कुछ,
फिर चली जाती।
घेरती आवर्त में
गिरि-शिखर-माला
डुबो देती
घाटियों में
छोर से फैले हुए घर!
देवदारु विशाल
वलयित हो सिहर उठते,
वाहु में बँध डालियों की,
सूचिकाओं की अँगुलियाँ चूम
क्षण भर में निठुर वन

वन्धनों को तोड़
जाती,
छोड़
सर्पिल स्पन्दनों की
रजत-रंगी याद।
हिलते देवदारु समूल
थर थर थर
अपूरित वासना से सिहर!
घिरती बादलों की लहर!

बादल मेरे पास

बादल कितने रूप धर
आये मेरे पास—
बाँहों में बन प्रेयसी
चरणों पर बन दास !

सिर पर बन अभिषेक-जल,
पाँवों में बन पाश !
साँसों में जल-गन्ध बन
नयनों में हिम हास !
अंग-अंग में पुलक बन
रग-रग में गति-लास !

सिमट सिमट कर बँध गया
बन्धन में आकाश !
बादल मेरे पास है
मैं बादल के पास !

इच्छापूर्ति

उस पार पहाड़ों के मेरा मन रहता है!
दुर्गम पथरीली ढालों पर घूमा करता,
आवारे सा हिमशिखरों को चूमा करता,
ग्लेशियरों में हिमखण्डों के सँग बहता है!

घाटियाँ बादलों से जब सहसा भर जातीं,
बिजली की कौंधों से किन्नरियाँ डर जातीं,
मेरा मन उनके कानों में कुछ कहता है!

जंगली हवा की सीटी पागल कर देती,
मुर्दा चट्टानों में अनुगूँजें भर देती;
तब मन अनदेखी छुवन साँप की सहता है!

जब दिन का गरुड़ पहाड़ों पर मँडराता है,
काफलपक्कू सन्नाटे को दुहराता है;
कच्चे पहाड़ सा मन दुहरा हो ढहता है!
उस पार पहाड़ों के मेरा मन रहता है!

शर-सन्धान

खिड़की के द्वार खोल चूमो आकाश !
कमरे में भरो बन्धु किरणें, वातास !
दूरागत नीली गहराई की गूँज
प्राणों में भरो कि बहरे मन की प्यास
बुझे। आँख मल देखो नीचे का स्वर्ग !
धूप-सिन्धु में वह अभिशप्त परी—धास—
तैर रही। छवि-लहरों बीच अनाद्यन्त
डूब रही धरती। पर यह कैसा हास
लोलुप सा ? यह कैसी कातर चीत्कार ?
चीर-हरण का कोई करता अभ्यास ?
एक शब्द-वाण, एक नयन - अग्निवाण
वातायन से छूटे, और अट्टहास !
थर-थर हो व्योम, थमक उठे किरन-यान।
हो शर-सन्धान ! यहाँ आ मेरे पास,
देखो वह धरती का खुला हुआ केश,
देखो वह नग्न-वेश, वह लम्पट रास !

लाल-हरी बत्तियाँ

अनुज कवि
स्व. सूर्यप्रताप सिंह की स्मृति को

कलम

वन्ध्या न बन, कर प्रजनन !
कलम ! चल, न रुक, न सुस्ता, पागल !
अन्धे की आँखों को दे प्रकाश, जल !
आँसू बन ढल, निखरें लोचन !
दर्द अपना क्या ? झूठा सपना क्या ?
सहम मत, कागज़ पर कँपना क्या ?
मुक्ति में सँवार यह बन्धन !
तोड़ दे सीमा सँकरी, बुझा बत्तियाँ लाल हरी,
चुन तारे, कलियाँ, कंकड़ी भी पथ पर बिखरी,
उपजीव्य तेरा जीवन !
नागों के फन तीखी नोक से नाथ,
जिधर क़दम साथ-साथ, तू भी चल साथ,
बोल बेज़बान ! न शरमा,
वर ले उनको, जिनका झुका हुआ माथ !
रत्न बाँट, करके मन्थन !
थर्मामीटर तू, छू तापमान देख,
नाड़ी की गति को अवलेख,
ग्राफ बना, आड़ी-तिरछी रेखा खींच
कर चढ़ाव-उतार सब का अंकन !
वन्ध्या न बन !

सड़क और पगडंडी

राजपथ सोया हटा कंकरीट - चेतना,
अवचेतन मिट्टी का खुला, उतरा गयी
पगडंडी ऊपर भुजंगिनी-सी। उन्मना
आदि भूमि क्वाँरी अनछुई विपदामयी
उठी फन फैलाये टेढ़ा-मेढ़ा। पहला
राही पथभूला उस पर दीखा चलता,
पद से कुमारी का विपद - मद दलता,
नाथता भुजङ्गिनी को। पार्श्व-वन दहला।
पदचिह्न-गन्ध सूँघ, 'मानव है' गुनते
आये अन्य खोजी किन्तु वे न अब भटके।
आया एक दिन राज-रथ, राजा अटके।
हुक्म हुआ, 'पथ हो प्रशस्त', यह सुनते
टेढ़ापन सीधा हुआ, सम हुई धरती,
राजपथ बना, रथ चला।.........
किन्तु सहसा
टूटा स्वप्न, चेतना का कंकरीट विहँसा,
आती वह बैलगाड़ी चर्रमर्र करती।

डाक

डाक सुनो प्रात का
न समय रहा रात का
न समय रहा बात का
न समय रहा !

सिन्धु-फेन से सपन विलीन हुए,
पालहीन नाव ज्यों दिशाहारा मन
डूबा लहरों में। ज्योतिक्षीण हुए
दीप अन्धकार के। चेतन
किरण रथ चला घर्घर
नभ में मनुजात का।
डाक सुनो प्रात का।

दीसता अनागत के यान का
अरुणध्वज; लहरों के पीछे से झाँकता
जिसका मस्तूल। महाप्राण का
शब्द मुखर स्वागत के हित तट पर।
परिवर्तन आँकता
लहरों पर विजय-चिह्न

पद के आघात का।
डाक सुनो प्रात का।
रात का प्रकाश-स्तम्भ
आँख मूँद कर सोया
दिन की उज्वल छाया में।
तट से सिर धुन कर टकराता
ज्वार। स्वर्ण - किरणों में
रंजित हो कर खोया
प्राची का नभ!
पर अपने ही रँग लहराता
अग्निगर्भ शस्य झेल कर झोंका
उद्धत निशि - वात का।
डाक सुनो प्रात का!

अभियान

ओ लगन के चोर, ओ रे कामना के धनी !
चढ़ सकोगे यों हिमालय के शिखर पर नहीं,
भटक जाओगे मरण की घाटियों में कहीं,
बर्छियाँ उगती जहाँ हैं, फूल बनते फणी !

यह शिखर जिस पर किरण की भैरवी नाचती;
बन्द कर आँखें प्रकृति निज लेख है बाँचती।
जम गयी है धूप जिस पर जल गयी चाँदनी !

लड़ सको हिम-प्रेत से यदि शक्ति हो तो बढ़ो !
प्राण अर्पित कर चरण को फिर शिखर पर चढ़ो !
राह देगी मृत्यु पर पहले बनो शतव्रणी !

अग्निचरण बनो कि हिम के अंग शीतल गलें,
वज्रहस्त बनो कि प्रस्तर मूर्तियों में ढलें ;
झुकेगी पद चूमने तव नियति बन बन्दिनी !
ओ लगन के चोर, ओ रे कामना के धनी !

चतुर्दशपदी

अब न सहा जाता यह दृष्टि का प्रहार !
भूखों के आगे यह भोजन की माँग
कब तक ? कब तक यह हमदर्दी का स्वांग
करूँ ? पीठ पर मन के कोड़ों की मार
सहते बनता न और। छुईमुई प्यार
कुम्हलाया देख तर्जनी का निर्देश।
देखा; वह भूख जर्जरित तन, स्तनशेष
शिशु—हारिल की लकड़ी—लिये द्वार-द्वार
घूम रही। बाज-सी लिये आँखें लाल
घूरते मियाँ, जैसे हो भुना कबाब;
पैसा दे आँख मारते। खाकर पान
लाला जी घूर-घूर हो रहे निहाल;
(ऐसा अपरूप रूप ज्यों जला गुलाब !)
फेंक रहे पैसा, वे बड़े दयावान !

दर्द

उभर कर आ दर्द मेरे, गीत कोई गा।

लहर उठती झलमलाती, घन अँधेरी रात;
चौंध जाती आँख पल भर ज्योति की बरसात।

उठ पुरानी पीर, इस कटु व्यंग्य पर मुसका!
उमड़ कर आ दर्द मेरे, गीत कोई गा;

शून्य काले विवर में ज्यों बन्द अन्धी वात,
सरकती जाती परस कर स्वप्न-बेसुध गात।

दर्द, ओ बेदर्द, उठ कर चेतना बरसा!
घिर घुमड़ कर दर्द मेरे, गीत कोई गा!

बुझे काले बल्व सा नीरन्ध्र यह आकाश,
तू उगल मणि-दीप, भर दे विश्व-बीच प्रकाश!

छोड़ अपनी गेंडुली फुफकार कर उठ आ!
लहर कर आ दर्द मेरे, गीत कोई गा!

उठ, कि आँखें डाल तेरी आँख में ओ नाग,
मैं बना डालूँ अमृत तेरा विषम विष-झाग।

आ मुझे डँस ले कि यह तम और हो गहरा!
गा नया कुछ, दर्द मेरे, गीत कोई गा!

दर्शन, प्यास और तृप्ति

[तीन मुक्तक]

[१]

कल रात चाँद के दर्पण में
देखा बिम्बित तेरा मुखड़ा, निज आँखें !
कल रात चाँदनी के सर में
देखा तिरते तेरा दीपक, निज पाँखें !

[२]

मेरे अतल अन्तर में तपती जो प्यास
अनाहूत अनचाही और अनायास,
यदि वह हो तुम मेरी प्राण !
तो मैं धन्य, धन्य मेरे गान !

[३]

प्रश्न : अरी कौन तू
दबोच रही मेरी दृष्टि ?
उत्तर : (मौन तीक्ष्ण धार वाला)
मैं तुम्हारी तृप्ति !

ओ अनामे : तुम

[१]

ओ अनामे, मैं तुम्हारा प्यार हूँ !
तुम नहीं हो, मैं अकेला हूँ,
कल्पना हूँ, स्वप्न मेला हूँ;
दूर तुम हो कहो, मैं पथ के किनारे,
एक मिट्टी का उपेक्षा-चरण-मर्दित
क्षुद्र ढेला हूँ !)
मृत्तिका हूँ पर नहीं बेकार हूँ,
मैं अनागत सृष्टि का आधार हूँ;
क्योंकि ओ मेरी अनामे, मैं तुम्हारा प्यार हूँ !

[२]

कम्प-सा तन, तुम शरद की धूप-सी !
प्रश्न-सा मन, तुम विराट-स्वरूप सी !
लाजवन्ती आँख, तुम कर का परस ;
हिमशिला मैं, तुम लपट के स्तूप-सी !

कण्ठ मैं, मुझमें हलाहल नील तुम !
अधर-का तट मैं, हँसी की झील तुम !
शून्य उर मैं, पैरती-सी तुम लगी ;
मुग्ध जीवन मैं, लहर गतिशील तुम !

परिवर्तन

मेरा निर्झर आवेग बना
समतल में मन्दस्मित नद की गहराई !
वह हरा कसैलापन कठोर
बन गया अचानक नरम मधुर सुघराई !

कम्पित किसलयी अरुण रेखायें
बनी चमकती तीक्ष्ण श्वेत असि-धारा !
वह विहग - युग्म
—दिन-रैन—

विकल
उड़ गया छोड़ मेरे पिंजड़े की कारा !
मैं आज नहीं रेखा-आकृति,
मैं नहीं भूमि पड़ी सान्ध्य परछाईं !

मैं समय - गुफा में
हूँ बहुरंगा चित्र,
जहाँ है नहीं दिशा की खाईं !

तीन मुक्तक

[१]

उजली धूप, निर्जन ठाँव,
नीले आसमाँ की छाँव!
लेटा हूँ, रहा लिख धूल—
में नाखून से निज नाम!

[२]

सोचता, पर सोचता क्या हूँ,
जान ही जाता अगर यह बात,
मैं न वह होता कि जो हूँ आज—
—एक सपनों की गुजरती रात!—

[३]

मेरी वाणी, युग न करे तेरा अनुधावन
तो भी क्या डर?
इस युग में तो अपनी आत्मा का
अनुरंजन भी है दूभर।

यह तेरा मधुमासी पंचम ही
है तेरा अन्तिम साखी।
सुने अनागत तेरा सरगम
ओ मेरे प्राणों के पाँखी!

रचनाएँ

कविता-संग्रह :

रूपरश्मि (१९४१), छायालोक (१९४५), उदयाचल (१९४६), मन्वन्तर (१९५०), दिवालोक (१९५३), माध्यम मैं (१९५७)

कहानी-संग्रह :

रातरानी (१९४६)

विद्रोह (१९४७)

नाटक :

धरती और आकाश (१९५४)

आलोचना :

छायावाद-युग (१९५२)

हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास (१९५६)

साहित्य के अतिरिक्त दर्शन, समाजशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन में विशेष रुचि ।